



ISSN: 2249-894X  
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)  
UGC APPROVED JOURNAL NO. 48514  
VOLUME - 8 | ISSUE - 8 | MAY - 2019



साधन और अवसर मिलेंगे। सर्वोदय दर्शन इस बात को मूल रूप से स्वीकार करता है कि अहिंसा और सत्य द्वारा ही इसे प्राप्त किया जा सकता है।

## भूमिका

भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में विकास सभी सरकारों के लिए विमर्श का सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा रहा है। विकास के अलग-अलग मानकों को सरकारें आजमाती हैं और उनके परिणामों का आकलन करती हैं। हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने अपने विभिन्न लेखनों के माध्यम से विकास के विविध आयामों पर जो कुछ भी लिखा है के आधार पर उनकी विकास दृष्टि को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। बिनोवा भावे को गांधी जी का अनुयायी ही माना

जाता है लेकिन उन्होंने सर्वोदय के माध्यम से अपनी एक अलग दृष्टि दी। वर्तमान समय में विकास को लेकर जो विरोधाभाष दिख रहे हैं वे हमें एक बार फिर से इन महापुरुषों के विकास संबंधी आयामों को समझने के लिए हमें प्रेरित करता है।

## शोध का उद्देश्य एवं जरूरत

विकास के विमर्शों में विभिन्न विचारकों में गांधी एवं बिनोवा भारतीय दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनकी प्रासंगिकता आज की समस्याओं और विकास के

विरोधाभाषों में और भी बढ़ जाती है। इस शोध के माध्यम से यह जानने का प्रयास है कि ये दोनों विचारक देश और समाज के लिए विकास के किन मानकों को अपनाने की बात करते हैं।

## शोध प्रविधि

विषय की आवश्यकता के अनुसार गांधी जी एवं आचार्य बिनोवा जी के विकास संबंधी विविध लेखनों का गुणात्मक विश्लेषण किया गया है।

महात्मा गांधी ने आजादी के आंदोलन के दौरान ही देश के

## गांधी और बिनोवा की विकास दृष्टि

### डॉ. विनय भूषण

सहायक प्रोफेसर, झारखण्ड केन्द्रीय विश्वविद्यालय.

### सारांश

गांधीजी अपने समय की रूस की समाजवादी व्यवस्था से प्रभावित थे और वे इसे स्वतंत्र भारत में भी कुछ संशोधनों के साथ अपनाना चाहते थे। वे समाजवाद को एक सुन्दर शब्द मानते हैं। वे मानते हैं कि समाजवाद में समाज के सारे सदस्य बराबर होते हैं, न कोई नीचा और न कोई ऊंचा। वहीं बिनोवा भावे के सर्वोदय का लक्ष्य एक ऐसे वर्गविहीन, जातिविहीन और शोषणविहीन समाज की स्थापना करना है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपने सर्वांगीण विकास के लिए समान रूप से

आर्थिक-सामाजिक भविष्य का खांका खींचा था। उनका मानना था कि “भारत अपने मूल स्वरूप में कर्मभूमि है, भोगभूमि नहीं।”<sup>1</sup> उन्होंने कभी भी यूरोपीय या पश्चिमी विकास दृष्टि या उनकी जीवन शैली को अपना करने की नहीं सोची। “यूरोपीय सभ्यता बेशक यूरोप के निवासियों के लिए अनुकूल है लेकिन यदि हमने उसकी नकल करने की कोशिश की, तो भारत के लिए उसका अर्थ अपना नाश कर लेना होगा। इसका यह मतलब नहीं कि उसमें जो कुछ अच्छा और हम पचा सकें ऐसा हो, उसे हम लें नहीं और पचायें नहीं। इसी तरह उसका यह मतलब भी नहीं है कि उस सभ्यता में जो दोष घुस गये हैं, उन्हें यूरोपीयनों को दूर नहीं करना पड़ेगा। शारीरिक सुख-सुविधाओं की सतत खोज और उनकी संख्या में तेजी से हो रही वृद्धि ऐसा ही एक दोष है; और मैं साहसपूर्वक यह घोषणा करता हूँ कि जिन सुखसुविधाओं के वे गुलाम बनते जा रहे हैं उनके बोझ से यदि उन्हें कुचल नहीं जाना है, तो यूरोपीय लोगों को अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। संभव है मेरा यह निष्कर्ष गलत हो, लेकिन यह मैं निश्चयपूर्वक जानता हूँ कि भारत के लिए इस सुनहरे मायामृग के पीछे दौड़ने का अर्थ आत्मनाश के सिवा और कुछ न होगा।”<sup>2</sup>

गांधीजी तो शासन व्यवस्था के संबंध में स्वराज्य को प्राथमिकता दी। उनकी नजरों में “स्वराज्य एक पवित्र शब्द है; वह एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्म-शासन और आत्म-संयम है। अंग्रेजी शब्द ‘इंडिपेंडेन्स’ अकसर सब प्रकार की मर्यादाओं से मुक्त निरंकुश आजादी का या स्वच्छंदता का अर्थ देता है; यह अर्थ स्वराज्य शब्द में नहीं है।”<sup>3</sup> इस संदर्भ में उनका मानना था कि “स्वराज्य से मेरा अभिप्राय है लोक-सम्मति के अनुसार होनेवाला भारतवर्ष का शासन। लोक-सम्मति का निश्चय देश के बालिग लोगों की बड़ी से बड़ी तादाद के मत के जरिए हो, फिर वे चाहे स्त्रियां हों या पुरुष, इसी देश के हों या इस देश में आकर बस गये हों। .... सच्चा स्वराज्य थोड़े लोगों के द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से नहीं, बल्कि जब सत्ता का दुरुपयोग होता हो तब सब लोगों के द्वारा उसका प्रतिकार करने की क्षमता प्राप्त करके हासिल किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, स्वराज्य जनता से इस बात का ज्ञान पैदा करके पैदा किया जा सकता है कि सत्ता पर कब्जा करने और उसका नियमन करने की क्षमता उसमें है।”<sup>4</sup> उन्होंने देश का भविष्य पूर्णतः स्वावलम्बन में देखा। वे तो स्वराज्य से बढ़कर पूर्ण स्वराज्य को चरितार्थ करना चाहते थे। “पूर्ण-स्वराज्य .... कहने में आशय यह है कि वह जितना किसी राजा के लिए होगा उतना ही किसान के लिए, जितना किसी धनवान जमींदार के लिए होगा उतना ही भूमिहीन खेतीहर के लिए, जितना हिन्दुओं के लिए होगा उतना ही मुसलमानों के लिए, जितना जैन, यहूदी और सिक्ख लोगों के लिए होगा उतना ही पारसियों और इसाइयों के लिए। उसमें जाति-पांति, धर्म अथवा दरजे के भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं होगा।”<sup>5</sup> इस रूप में वे पूर्णतः जातिविहीन, वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें न कोई अमीर हो और न कोई गरीब, न कोई राजा हो और न कोई रंक। उन्होंने तो एक ऐसा सपना देखा था कि “मेरे सपने का स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य होगा। जीवन की जिन आवश्यकताओं का उपभोग राजा और अमीर लोग करते हैं, वही तुम्हें भी सुलभ होनी चाहिए; इसमें फर्क के लिए स्थान नहीं हो सकता। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे पास उसके जैसे महल होने चाहिये। सुखी जीवन के लिए महलों की कोई आवश्यकता नहीं। हमें महलों में रख दिया जाये तो हम घबड़ा जायें। लेकिन तुम्हें जीवन की वे सामान्य सुविधाएं अवश्य मिलनी चाहिये जिनका उपभोग अमीर आदमी करता है। मुझे इस बात में बिलकुल भी सन्देह नहीं है कि हमारा स्वराज्य तब तक पूर्ण स्वराज्य नहीं होगा, जब तक वह तुम्हें ये सारी सुविधाएं देने की पूरी व्यवस्था नहीं कर देता।”<sup>6</sup>

देश की आजादी के बाद लोकतांत्रिक व्यवस्था के गुणों को भी उन्होंने रेखांकित करने का प्रयास किया था। वे जनता के हाथों में सत्ता की बागडोर सौंपना चाहते थे। “जनता की राय के अनुसार चलने वाला राज्य जनमत से आगे बढ़कर कोई काम नहीं कर सकता। यदि वह जनमत के खिलाफ जाय तो नष्ट हो जाय। अनुशासन और विवेकयुक्त जनतंत्र दुनिया की सबसे सुन्दर बस्तु है। लेकिन रामद्वेष, अज्ञान और अन्ध-विश्वास आदि दुर्गुणों से ग्रस्त जनतंत्र अराजकता के गड्ढे में गिरता है और अपना नाश खुद कर डालता है।”<sup>7</sup>

गांधीजी अपने समय की रूस की समाजवादी व्यवस्था से प्रभावित थे और वे इसे स्वतंत्र भारत में भी कुछ संशोधनों के साथ अपनाना चाहते थे। “समाजवाद एक सुन्दर शब्द है। जहां तक मैं जानता हूँ समाजवाद में समाज के सारे सदस्य बराबर होते हैं, न कोई नीचा और न कोई ऊंचा। किसी आदमी के शरीर में सिर इसलिए ऊंचा नहीं है कि वह सबसे ऊपर है और पांव के तलुवे इसलिए नीचे नहीं हैं कि वे जमीन को छूते हैं। जिस तरह मनुष्य के शरीर के सारे अंग बराबर हैं, उसी तरह समाजरूपी शरीर के सारे अंग भी बराबर हैं। यही समाजवाद है।”<sup>8</sup> इस वाद में राजा और प्रजा, धनी और गरीब, मालिक और मजदूर सब बराबर हैं।

सामाजिक विकास की प्रारंभिक अवस्था में मनुष्य मिलकर श्रम करते हैं और मिलकर आपस में श्रम फल बांट लेते हैं। ऐसे मनुष्यों के समाज की विशेषता है समानता के आधार पर उत्पादन और वितरण में समाज के सभी सदस्यों की भागीदारी। समाज की इस अवस्था को आदिम साम्यवाद कहते हैं; समाज के गठन के रूप को गण या कबीला कहा जाता है। गण के सभी सदस्य स्वयं को एक दूसरे का रक्त संबंधी मानते हैं। निकट के रक्त संबंधी सदस्य गोत्रों और कुलों में विभाजित होते हैं।

सामाजिक विकास की दूसरी अवस्था में श्रम का विशेषीकरण होता है। कुछ लोग कारीगरी में लगे होते हैं, कुछ किसानों में, कुछ पुरोहिताई में। उत्पादन और वितरण में पूरा गण या गोत्र नहीं लगा होता, गोत्र के अंतर्गत कुटुम्ब श्रम करते हैं और श्रम फल बांट लेते हैं। अपने श्रम के अनुसार ये कुटुम्ब अनेक श्रेणियों में संगठित होते हैं। कुटुम्बों की संपत्ति में भेद होता है और समाज में समानता का स्थान असमानता लेती है। भूमि का स्वामित्व जब कुछ कुटुम्बों के हाथ में सिमट आता है, तब कारीगरों और किसानों का श्रम फल भूस्वामी और उनके समर्थक पुरोहित हड़पने लगते हैं। इन भूस्वामियों को राजन्य अथवा सामंत कहते हैं। भूस्वामियों की प्रधानता के कारण समाज-व्यवस्था को सामंतवाद कहते हैं।

इस व्यवस्था में पुराने रक्त संबंध टूटते हैं और नये सिरे से जुड़ते हैं। पुरोहित एक दूसरे के रक्त संबंधी होंगे, उनका एक वर्ण होगा। वर्ण के अन्तर्गत निकट संबंधियों के गोत्र होंगे। इसी तरह भूस्वामियों के वर्ण और गोत्र होंगे। किसानों में लगे हुए लोग बिरादरियों में बंटे होते हैं इन बिरादरियों में पुराने रक्त संबंधों की स्मृति वे संजोये रहते हैं। कारीगरों की पेशेवर बिरादरियां बनती हैं। इन्हीं बिरादरियों की व्यवस्था को ‘कास्ट सिस्टम’ कहा जाता है। बिरादरियों के समूह विशेष को वर्ण कहते हैं। वर्णों में परस्पर ऊंच-नीच का भेद होता है। सामंती समाज में कुछ लोगों के पास विशेष अधिकार होते हैं; अपनी कुलीनता को वे इन अधिकारों का आधार मानते हैं। बाकी लोग अधिकार हीन होते हैं। यही द्विज और शूद्र का भेद सामंती समाज का मुख्य भेद होता है। ऐसे सामंती समाजों की निवासभूमि को हमारे यहां जनपद कहते हैं। इसलिए इन समाजों के गठन के रूप को हमज न कह सकते हैं। गणों और जनों में भेद यह है कि गण अक्सर घुमंतू जीवन बिताते हैं, जन किसी प्रदेश में स्थायी रूप से रहते हैं। गणों से भिन्न जन प्रदेशगत इकाइयां होते हैं।

सामंती समाज में विनिमय का विकास बहुत सीमित रहता है। उत्पादन का लक्ष्य अपने प्रदेश की आवश्यकता पूरी करना होता है। इस कारण आर्थिक संबंधों के विचार से जनपद एक दूसरे से अलग-अलग रहते हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के अलावा जब किसी जनपद के लोग विनिमय के लिए माल तैयार करते हैं, तब आर्थिक संबंधों का विस्तार होता है, जनपदों का अलगाव खत्म होने लगता है। विनिमय के विस्तार के साथ वित्त का चलन होता है। जितना ही वित्त का चलन अधिक होता है, उतना ही कुलीनता का महत्व क्षीण होता है, विशेषाधिकारों वाली वर्ण व्यवस्था टूटती है, केवल विनिमय में संलग्न व्यापारियों के एक नये वर्ग का जन्म होता है। व्यापार के बड़े-बड़े केन्द्र शहरों के रूप में कायम होते हैं। इन शहरों में बिकाऊ माल तैयार करने वाले अनेक जनपदों के कारीगर एकत्र होते हैं। इस तरह से पुराने वर्णों से भिन्न शहरों में कारीगरों का एक अन्तर्जनपदीय वर्ग निर्मित होता है। इसी के समानान्तर पुराने बनियों की जगह व्यापारियों का नया अन्तर्जनपदीय वर्ग कायम होता है। पुरोहितों और भूस्वामियों के लिए विशेषाधिकारों के सहारे जीते रहना असंभव हो जाता है। वित्त की नयी शक्ति के आगे उन्हें झुकना पड़ता है। वर्ण व्यवस्था के विघटन काल की इस स्थिति को कलियुग कहा जाता है।

परिवर्तन की इस सारी प्रक्रिया में व्यापारी की भूमिका निर्णायक होती है, इसलिए नये आर्थिक संबंधों की इस व्यवस्था को हम व्यापारिक पूंजीवाद कहते हैं। व्यापारिक पूंजीवाद सदा सामंती खोल के भीतर विकसित होता है, इसलिए पुराने सामंती संबंधों से पूरी तरह मुक्त नहीं होता। जब तक व्यापार का उद्देश्य केवल संपत्तिशाली वर्गों के वैभव-विलास की सामग्री जुटाना होता है, तब तक उसका दायरा सीमित रहता है। जब वह सामान्य जनो की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए सामग्री जुटाता है, तब उसका दायरा और बढ़ा होता है, तभी नये आर्थिक संबंधों का निर्माण होता है। केवल नगरों में नहीं, नगरों और गांवों के बीच विनिमय का विकास होता है। नगर जिन आर्थिक संबंधों का प्रसार करते हैं, उनकी लपेट में गांव भी आ जाते हैं। इस तरह सामाजिक गठन के नये रूप का जन्म होता है। इसे हम जाति कहते हैं। जाति हमेशा सामंती व्यवस्था के जनो से मिलकर बनती है। अनेक जनपदों के मेल से जातीय प्रदेश का निर्माण होता है। गणों से जन, जनो से जाति, मनुष्य अपने विकास क्रम में निरंतर छोटी से बड़ी, फिर और बड़ी इकाइयों में संगठित होता जाता है।

जाति का निर्माण सामंती अवस्था के अन्तर्गत व्यापारिक पूंजीवाद के विकास के साथ होता है, अतः यह विकास विषम गति से होता है और उसकी प्रक्रिया दीर्घकालीन होती है। कभी सामंती संबंध प्रबल हो जाते हैं तो यह प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है। समाज आगे बढ़ने के बदले पीछे ठेल दिया जाता है। जनपदों का अलगाव क्रमशः दूर होता है, अतः विभिन्न परिस्थितियों में उन्हें मिलाने का माध्यम एक से अधिक जनपदीय भाषाएं हो सकती हैं। इन्हीं में से कोई एक भाषा स्थायित्व प्राप्त करके, अक्सर अन्य जनपदीय भाषा-तत्त्व आत्मसात् करते हुए जातीय भाषा का स्वरूप ग्रहण करती है। सामाजिक गठन के रूपों में जाति सबसे विशद और सबसे स्थायी रूप प्रमाणित हुई है। व्यापारिक पूंजीवाद के बाद मशीनों का चलन होने पर औद्योगिक पूंजीवाद की अवस्था में, इजारेदारी और पूंजी का निर्यात का चलन होने पर, वह महाजनी पूंजीवाद की अवस्था में कायम रहती है। पूंजीवाद के स्थान पर जहां समाजवादी व्यवस्था कायम की जाती है, वहां भी सामाजिक गठन का यह जाति नामक रूप बना रहता है। जातीय निर्माण और विकास की यह प्रक्रिया संस्कृति के हर स्तर को प्रभावित करती है। विजय और पराजय, पतन और उत्थान, संघटन और विघटन की अनेक ऐतिहासिक स्मृतियां इस प्रक्रिया से जुड़ी होती हैं।<sup>9</sup>

### विनोबा का सर्वोदय-

विनोबा ने गांधीजी के जीवनादर्शों पर चलकर सर्वोदय विचार को अपनाया। सर्वोदय का मतलब होता है-सबका उदय। गांधीजी ने समाज में अंत्योदय ( अंतिम पंक्ति में खड़े व्यक्ति के उदय) को सर्वोदय की पहली एवं वास्तविक कड़ी माना है। ऐसा माना जाता है कि विनोबा ने गांधीजी के सर्वोदय/अंत्योदय के विचारों को आध्यात्मिकता प्रदान किया है। यह आध्यात्मिकता विचारों से लेकर दर्शन तक के स्तर पर देखने को मिलती है। सर्वोदय के अर्थ को स्पष्ट करते हुए विनोबा अद्वैत दर्शन की बात करते हैं, जहाँ किसी प्रकार की भिन्नता नहीं होगी, चाहे वह मानव-स्तर पर हो या प्रकृति स्तर पर। विनोबा के लिए सर्वोदय का तत्त्वज्ञान कुल मिलाकर समन्वयात्मक है, अर्थात् सारे विचारों को एकत्रित करने की शक्ति सर्वोदय में निहित है। दुनिया में प्रायः दो तरह के सिद्धान्त प्रचलित हैं। पहला-दूसरों का खाकर जीओ और दूसरा-जीओ और जीने दो। ये दोनों ही सिद्धान्त अपने आप में एकांगी स्वरूप लिए हुए हैं। इनके बरकश तीसरा सिद्धान्त आया-तुम जिलाने के लिए जीओ, जब प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को जिलाने के लिए जीएगा, तभी केवल और केवल सबका जीवन संपन्न होगा, सबका उदय होगा। तभी वास्तविक अर्थों में सर्वोदय होगा। दूसरों को अपना बनाने के लिए प्रेम का आधार सभी धर्मों में उल्लिखित है और यह प्रेम का विस्तार अहिंसा से ही संभव है। इस प्रकार सर्वोदय जीवन के शाश्वत एवं व्यापक मूल्यों की स्थापना करना चाहता है और इस मार्ग में आने वाले बाधक तत्वों का निराकरण भी।

सर्वोदय का लक्ष्य एक ऐसे वर्गविहीन, जातिविहीन और शोषणविहीन समाज की स्थापना करना है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपने सर्वांगीण विकास के लिए समान रूप से साधन और अवसर मिलेंगे। सर्वोदय दर्शन इस बात को मूल रूप से स्वीकार करता है कि अहिंसा और सत्य द्वारा ही इसे प्राप्त किया जा सकता है।

महात्मा गांधी ने सर्वोदय के इस दर्शन को जन्म देकर सार्वजनिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन की साधनाओं को एक में मिलाकर सामाजिक मूल्यों का रूप दिया, किंतु सर्वोदय से पूरे दर्शन को विनोबा ने ज्यादा विकसित किया। भूदान, ग्रामदान, साधनदान, बुद्धिदान आदि की प्रक्रियाएँ हृदय परिवर्तन की ही तो प्रक्रियाएँ हैं, जिसे विनोबा जमीन पर प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में यदि हम सर्वोदय की अवधारणा के संदर्भ में गांधी और विनोबा पर साथ-साथ दृष्टि डालें तो पाएंगे कि गांधी केचल रामराज्य की बात करते हैं, जबकि विनोबा इनसे दो कदम और आगे बढ़कर 'जय जगत' को गुंजायमान करते हैं, इस दर्शन को आध्यात्मिकता का स्पर्श देते हैं और साथ ही उसे ठोस रूप में मूर्त भी करना चाहते हैं-भूदान आंदोलन इसका प्रमाण है। उन्होंने कहा था कि-मुझे समाज के उन तबकों को जमीन दिलवानी है, जो वास्तविक रूप में समाज के हाशिए पर हैं। विनोबा तो भूदान क्रांति से दुनिया पलटने के लिए घूमने लगे। उनका स्वप्न सत्तर हजार विचारवान और आचारवान लोगों की एक शांति अहिंसा सेना खड़ा करना था। अहिंसा के सामाजिक प्रचार के लिए भूदान आंदोलन एक अधिष्ठान ही बन गया था। भूदान यात्रा के तीसरे दिन) 18 अप्रैल, 1951ई (.पोचमपल्ली) आंध्र प्रदेश (में रामचन्द्र रेड्डी सौ एकड़ जमीन वहाँ के हरिजनों को देने को तैयार हुए। विनोबा को भूदान के लिए एक बड़ी सफलता बिहार यात्रा के दौरान) 14 सितम्बर, 1952से 31 दिसम्बर 1954 ई (.प्राप्त हुई इसमें 23 लाख एकड़ भूमि मिली। बिहार में भूदान के लिए जो प्रेम विनोबा को मिला, इसकी स्पष्ट झलक 'अहिंसा की तलाश' पुस्तक में मिलती है कि-'वहाँ की जनता की सरलता-उदारता हृदय को छुए बिना नहीं रह सकती। हम जिसे प्रांतीय भावना कहते हैं, वह बिहार के लोगों में दूसरे प्रांतों की तुलना में बहुत कम मालूम हुई। वहाँ के

लोगों ने मुझे आत्मीय भाव से माना। बहुत आनंद और अपार शांति का वहाँ अनुभव हुआ। मनुष्य की आत्मा में केवल आनंद जितना व्यापक आकाश है, उतना ही व्यापक आनंद है। बिहार की भूमि में वह आनंद हमने बहुत लूटा। आकाश के समान विशाल हृदय का सर्वत्र स्पर्श हुआ। इसलिए इस यात्रा को आनंद यात्रा कहता हूँ ...विनोबा ने भूदान आंदोलन से समाज को एक नई दिशा दी। विनोबा का मत था समाज के हाशिए के लोगों (खास करके बच्चे, बूढ़े, बीमार, विधवाएँ, बेकार) के लिए सम्पत्ति, अपने धन का छठवाँ हिस्सा दान करें, यह दान सबसे पुनीत दान है। संपत्ति दान को वे शांति, सेना, ग्रामदान, खादी काम में और इससे बढ़कर सबके साथ प्रेम के लिए सहमति मानते हैं। सर्वोदय पात्र से मिलने वाले अनाज का उपयोग क्रांति के लिए, यानी नए समाज की पुर्नसंरचना में काम आ सकता है। इसे विनोबा से ही कोई सीख सकता है। उनमें 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के प्रति विश्वास और समाज में इसके प्रति आकर्षण को, जयप्रकाश नारायण के शब्दों में कहा जा सकता है कि विनोबा अतीव पिछड़े और हाशिए के लोगों के सभी कष्टों को उक्त मंत्र से समाज को प्रेरित करके दूर करना एवं सब में समता और समदर्शिता की रोशनी फैलाना चाहते थे, जिससे सर्वोन्नति और सभी का समान विकास हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी और बिनोवा दोनों आर्थिक विकास से अधिक महत्व अंतिम आदमी के विकास को ही देते हैं।

<sup>1</sup> यंग इंडिया, 5-2-1925

<sup>2</sup> यंग इंडिया, 30-4-1931

<sup>3</sup> यंग इंडिया, 19-3-1931

<sup>4</sup> हिन्दी नवजीवन, 29-1-1925

<sup>5</sup> यंग इंडिया, 5-3-1931

<sup>6</sup> यंग इंडिया, 26-3-1931

<sup>7</sup> यंग इंडिया, 30-7-1931

<sup>8</sup> हरिजन सेवक, 13-7-1947

<sup>9</sup> हिंदी जाति का साहित्य, डॉ. रामविलास शर्मा, राजपाल एण्ड सन्स, 1992, पृ.13-15



**डॉ.विनय भूषण**

सहायक प्रोफेसर, झारखण्ड केन्द्रीय विश्वविद्यालय.